नववर्ष की हार्दिक शुभकामनाएँ
ಹೊಸ ವರ್ಷದ ಶುಭಾಶಯಗಳು

RNI Regd. No. KARBIL/2014/54464

न जात का ना पात का
न रंग भेद का,
इंसान तो बस एक है
किसी भी देश का
न वर्ग वर्ण हैं कहीं
ऊँच-नीच है कहीं ।

आदर्श रस्म रीत है
मधुर मिलन की प्रीत है,
ईश्वर की दी ये जिंदगी
सभी यहाँ मन मीत हैं ।

अनेकता में एकता का
प्रेम का जहान है,
इन्सानियत पे मर-मिटे जो
इन्सान वो महान है
न जात का ..... ।

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक'

ಇಲ್ಲ ಜಾತಿ, ಧರ್ಮ
ಇಲ್ಲ ಬಣ್ಣ, ಭೇದಭಾವ
ಮನುಷ್ಯ ಮಾತ್ರ ಒಬ್ಬನೆ
ಯಾವುದೆ ದೇಶವಾಗಲಿ
ಇಲ್ಲಿ ವರ್ಗ, ವರ್ಣ
ಮೇಲು-ಕೀಳು ಎಲ್ಲಿಯೂ ಇಲ್ಲ.

ಆದರ್ಶ ನೀತಿ ರೀತಿಯಾಗಿದೆ
ಮಧುರ ಮಿಲನದಲ್ಲಿ ಪ್ರೀತಿ
ಈಶ್ವರ ದಯಪಾಲಿಸಿದ ಈ ಜೀವನ
ಇಲ್ಲಿ ಎಲ್ಲರ ಮನಸ್ಸು ಮಿತ್ರಮಯ

ಅನೇಕತೆಯಲ್ಲಿ ಏಕತೆ
ಪ್ರೇಮದ ಜಗತ್ತಿದು
ಮಾನವೀಯತೆಗಾಗಿ ಸಾಯುವವನೆ
ಮಹಾಮಾನವ

ಡಾ. ರಮೇಶ ಪೋಖರಿಯಾಲ 'ನಿಶಂಕ'

ISSN 2320-0371
9 772320 034008

अनुक्रम

लेख

1.	भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी-साहित्य "पाठ्यक्रम के विशेष संदर्भ में"	• डॉ. बी. आर. धापसे	1
2.	मैथिलीशरण गुप्त तथा कुवेंपु के काव्य में प्रकृति	• डॉ. एस. टी. मेरवाडे	5
3.	कामायनी में संस्कृति, धर्म और दर्शन का संगम	• डॉ. बसवराज के. बारकेर	13
4.	'यहीं कहीं था घर' उपन्यास में चित्रित सामाजिक यथार्थ	• शकुंतला एस. पाटील	16
5.	संत साहित्य की सामाजिक चेतना	• गीता गु. मठ	20
6.	समकालीन हिंदी कविता में अभिव्यक्त किसानों की समस्याएँ	• शिवकुमार सी. एस. हडपद	23
7.	सारिकायुक्त वीणा की स्वरस्थापना-विधि और स्वरों का क्रमिक विकास	• श्र श्री काशिलिंग मठ	26

कहानी

8.	रिक्शावाला	• डॉ. सुरेश मारुतिराव मुळे	32
9.	अंबिगर चौडय्या के वचन	• प्रो. तेजस्सी कट्टीमनी	36
10.	मेदार केतय्या के वचन	• प्रो. दी. जी. प्रभांशकर प्रेमी	19
11.	मोळिगे मारय्या के वचन	• प्रो. टी. जी. प्रभाशंकर	19

■■

मैथिलीशरण गुप्त तथा कुवेंपु के काव्य में प्रकृति

• डॉ. एस. टी. मेरवाडे

आधुनिक युग में प्रकृति-चित्रण की विविध प्रणालियाँ प्रचलित हैं । आज का कवि प्रकृति को अपने काव्य का मूलाधार मानता है और प्रकृति के माध्यम से अपनी कल्पनाओं को अभिव्यक्त करता है । यही कारण है कि आधुनिक कविता में प्रकृति विविध रूपों में चित्रित हुई है । सामान्यत: आधुनिक काव्यों में प्रकृति के विविध बिम्ब मिलते हैं, जैसे आलंबन रूप में, उद्दीपन रूप में, संवेदनात्मक रूप में, वातावरण-निर्माण के रूप में, रहस्यात्मक रूप में, प्रतिकात्मक रूप में, अलंकार योजना के रूप में, मानवीकरण के रूप में, लोक-शिक्षा के रूप में आदि ।

प्रकृति-चित्रण मैथिलीशरण गुप्तजी के काव्य का प्रधान विषय नहीं है फिर भी उनके प्रबन्ध-काव्यों में प्रकृति की मनोरम झाँकियाँ अंकित हुई है । प्रकृति-चित्रण के लगभग सभी रूप उनके काव्य में उपलब्ध होते हैं ।

कुवेंपुजी की सम्पूर्ण कविता का मेरुदण्ड उनकी उर्वरा कल्पना-शक्ति है । कुवेंपुजी कोमल एवं सुकुमार कल्पना के भी हैं । उनकी यह कल्पना सर्वथा अजेय, अपराजित, अलौकिक एवं अद्‌भूत है, वह नवनवोन्मेषशालिनी है और नूतन सृष्टि-विधायिती है । अपनी इसी अनुपम एवं अप्रतिम कल्पना के साहरे कुवेंपुजी ने प्रकृति की अत्यन्त मनोरम झाँकियाँ अंकित की हैं । कुवेंपु ने अपनी इसी सतरंगी कल्पना के बलबूते पर प्रकृति को चिर-यौवना के रूप में अंकित किया है । कुवेंपु की चिर-यौवना प्रकृति अलौकिक सौंदर्य से ओतप्रोत है, अनुपम सुकुमारता उसके अंग-अंग में समायी हुई है ।

गुप्तजी रचित 'साकेत' के आठवे सर्ग में चित्रकूट पर अंकित प्रात:कालीन छटा का तथा नवम् सर्ग में षट्‌ऋतुओं का वर्णन करते हुए प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण किया गया है । उर्मिला का विरह प्रकृति के उपादानों द्वारा उद्दीप्त होते हुए दिखाकर प्रकृति के उद्‌दीपन-रूप की झाँकी प्रस्तुत की गयी है । प्रकृति के संवेदनात्मक रूप का चित्रण उन स्थलों पर हुआ है जहाँ वियोगावस्था में वह विरहिणी के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करती है -

लेता है नि:श्वास समीरण ।
सुरभि धूल चरती है ।

सुख की स्थिति में वृक्ष अपने किसलय-करों से उसका स्वागत करते हैं और पुष्प उसके उल्लास को द्विगुणित बनाते हैं । कतिपय स्थलों पर प्रकृति का मानवीकरण भी किया गया है -

ओ हो मरा वह वराक बसन्त कैसा ।
ऊँचा गला रूँध गया अब अंत जैसा ।

कुछ स्थलों पर प्रकृति-चित्रण वर्णनात्मक शैली में हुआ है -

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
पुञ्जाकृति गुञ्जित कुंज घना है मेरा,
जल-निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ चित्रकूट, दृढ-दिव्य बना है मेरा ।

प्राचीन कवियों के समान गुप्त जी ने अलंकार-रूप में भी प्रकृति के उपादानों का प्रयोग किया है । सीता का सौन्दर्य चित्रण करते हुए कवि ने उनके मुख की तुलना कमल और भुजाओं की तुलना कमल-नाल से की है ।

मुक्तक के समान प्रबन्ध-काव्य में प्रकृति को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता । वहाँ प्राकृतिक वस्तुएँ एक विशेष अनुपात में कथानक का स्वाभाविक बनकर ही स्थान पा सकती हैं । महाकाव्य की भूमि बहुत विस्तृत होती है और उसकी संभावनाओं की कोई सीमा नहीं है । उदाहरण के लिये ऊर्मिला के दुःख का निवेदन प्रकृति के माद्यम से हुआ है और इसके लिये कवि ने षट्ऋतु-वर्णन के लिये अवकाश निकाल लिया है और ऋतु-वर्णन का सहारा लेते ही प्रकृति के अंतर्गत ऐसा क्या है जिसे किसी न किसी रूप में समेटा न जा सके । गुप्त जी ने भी नवम सर्ग में तृणा से लेकर पर्वत तक, ओस की बूंद से लेकर तारों तक, निर्झर से लेकर समुद्र तक, धरती-आकाश के बीच की सभी वस्तुओं को समेट लिया है । इनमें से जिन वस्तुओं पर विरहिणी की दृष्टि कुछ देर अधिक ठहर गयी है, उन्होंने स्वतन्त्र वर्णन का रूप धारण कर लिया है । चित्रकूट, नदी, किरण, कमल आदि के संबंध में यह शिकायत बनी हुई है । वर्षा सम्बन्धी गीत भी ऐसा ही है । उसकी कुछ भावपूर्ण पंक्तियाँ हैं -

दरसो परसो घन, बरसो ।
सरसो जीर्ण शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, बरसो ।
सृष्टि दृष्टि के अंजन अंजन, ताप-विभंजन, बरसो ।
व्यग्र उदग्र जगज्जननी के प्रयि अग्रस्तन, बरसो ।
गत सुकाल के प्रत्यावर्तन, है शिखिनर्तन, बरसो ।
जड चेतन में बिजली भर दो ओ उद्बोधन, बरसो ।
घट पूरो त्रिभुवनमानस रस कन कन छन छन, बरसो ।
आज भीगते ही घर पहुँचे, जन जन के जन, बरसो ।

मैथिलीशरण गुप्तजी की दृष्टि प्रकृति को अपने यथार्थ रूप में प्रदर्शित करने की ओर अधिक है । उनका मुख्य उद्देश्य विवरण प्रस्तुत करना ही रहता है ; लेकिन वस्तुओं का चयन इस रूप में होता है, भाषा कुछ ऐसी उपयुक्त होती है कि वस्तु-परिगणन शैली में भी माधुर्य उत्पन्न हो जाता है । वन का यह वर्णन सामान्य ही कहा जायेगा-

कंटक जहाँ कुसुम भी हैं,
छाया वाले द्रम भी हैं ।
निर्झर है, दूर्वा-दल हैं,
मीठे कंद, मूल, फल हैं ।
सलिलपूर्ण सरिताएँ हैं ।
करूणा भाव भरिताएँ हैं ।
मुक्त गगन है, मुक्त पवन,
वन है प्रभु का खुला भवन ।

सभी युगों के कवियों के समान गुप्त जी ने भी प्रकृति का उपयोग अलंकार-विधान के लिये किया है । रूप के वर्णन में जिन उपमानों का प्रयोग किया गया है, वे सब पुराने और परिचित हैं । इन्होंने भी मुख की तुलना चंद्रमा और कमल से, नेत्रों की खंजन और हीरकों में जडे नीलम से, केशों की सर्प और धन से, दाँतों की कुंदा कली और मोतियों से, अधरों की पद्मराग और दुपहरिया के फूल से, मन की सरोवर से, गति की मराल से तथा शरीर की कांति की दमिनी की द्युति से की है। इन उपमानों में न कोई नयापन है, न नयी भंगिमा, फिर भी अपने चिर परिचय के करण वे हमारी आंखों के सामने शोभा के चित्र तुरन्त खडे कर देते हैं । कहीं-कहीं उन्होंने सुन्दर वस्तुओं को असुन्दर रूप में भी देखा

है, जैसे कैकेयी के वरदान माँगने पर राजा को भवन श्मशान के समान और उसमें उतरती चाँदनी कफन-सी प्रतीत होती है; लेकिन यह तो एक भयंकर परिस्थिति में घोर निराश मन की प्रतिक्रिया है । एक दूसरे प्रसंग में चित्रकूट की तुलना बैल से कर दी है । कहीं-कहीं ये कल्पनाएँ सामान्य से थोडी भिन्न भी होती हैं, जैसे तारों को दिन के बीज या गंध को निद्रित वन की साँस कहना ।

वातावरण-अंकन में इन्हें कुछ अधिक सफलता मिली है । यह बात प्रथम सर्ग में ऊर्मिला-लक्ष्मण-मिलन, सप्तम में भरत शत्रुघ्न के अयोध्या प्रवेश, अष्टम में चित्रकूट-सभा तथा दशम में विरह की पृष्ठभूमि के तुलनात्मक अध्ययन से अच्छी तरह समझी जा सकती है । एक में प्रसन्नता है, दूसरी में उदासी, तीसरी में निस्तब्धता, चौथी में घना विषाद । इनमें से उदास संध्या के रूप को प्रस्तुत किया गया है ।

हो रही संध्या अभी उपलब्ध,
किंतु मानो अर्ध्द निशि निस्तब्ध !
नागरिक गए गोष्ठियों से हीन,
आज उपवन हैं विजन में लीन ।
जा रहा है व्यर्थ सुरभि-समीर,
हैं पडे हत से सरों के तीर ।
पार्श्व से यह खिसकती-सी आप,
जा रही सरयू बही चुपचाप ।

ऐसा नहीं है कि मैथिलीशरण गुप्त पर अपने युग का प्रभाव न पडा हो । मानवीकरण की प्रवृत्ति जो उनमें बहुत से पायी जाती है, आधुनिक युग की ही देन है । उनके काव्य में चित्रमयता पर भी छायावादी-कला की कुछ न कुछ छाप है । संश्लिष्ट चित्रण के लिए संगम के वर्णन को लिया जा सकता है । सीता-लक्ष्मण द्वारा खडी की गयी इन कल्पनाओं के लिए राम ने गीत-काव्य-चित्रावली का नाम दिया है । प्रकृति को गुप्त जी ने अनेक स्थानों पर चेतन रूप में देखा है । प्रकृति की सजीवता की झाँकी ऐसी पंक्तियों में बराबर मिलती है -

प्यार से अंचल पसार हरा-भरा,
तारकाएँ खींच लाई है धरा ।
हा मोरे कुंजों का कूजन रोकर निराश होकर सोया ।
निकल गयी चुपचाप निशा अभिसारिका ।

साकेत की प्रकृति में सहानुभूति का तत्व विशेष रूप से विद्यमान है । ऊर्मिला के दुःख में यदि प्रकृति ने उसके प्रति सहानुभूति न प्रदर्शित की होती, तो उसका जीवन भार हो जाता । ग्रीष्म में इधर दीन दृग दुःखी हैं, उधर मीन मृग विकल हैं; हेमंत में यदि ऊर्मिला घर में दुबली थी, तो पद्मिनी सर में नाल-शेष थी; शिशिर में मकडी सहानुभूति दिखाती, क्योंकि वह भी तो ऊर्मिला जैसी जाल गता थी; वसंत में षट्पदी (भ्रमरी) भी उसी प्रकार पद्म में गतिहीन बैठी थी, जिस प्रकार अपने सद्म में सप्तपदी (विवाहिता) ऊर्मिला । इसी प्रकार ऊर्मिला को रोते देख लता भी फूल के रूप में अपने आँसू गिराती थी ।

मैथिलीशरण गुप्तजी की 1915 की रचना पंचवटी है । इस काव्य का आरंभ चाँदनी रात के वर्णन से होता है । गुप्तजी का प्रकृति चित्रण अत्यंत स्वाभाविक होता है, फिर भी उसमें एक सांगीतिक शब्द विन्यास का प्रयास जरुर होता है जैसे -

गोदावरी नदी का तट यह
ताल दे रहा है अब भी
चंचल-जल कल-कल कर मानो
तान के रहा है अब भी
नाच रहे हैं अब भी पत्ते
मन से सुमन महकते हैं
चंद्र और नक्षेत्र ललककर
लालच भरे लहकते हैं ।

सीता को देखकर प्रकृति प्रमुदित हो उठी । इस दृश्य को गुप्तजी ने चित्रमयता के साथ चित्रित किया है । जैसे-

हँसने लगे कुसुम कानन के,
देख चित्र-सा एक महान,
विकच उठीं कलियाँ डालों में
निरख मैथिलीकी मुस्कान ।
कौन कौन से फूल खिले हैं,
उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके
जुड आई भौंरो की भीर ।

प्रकृति-शिशु कुवेंपुजी स्वाभाविक रूप से प्रकृति के कवि थे । मातृगर्भ से ही प्राकृतिक संदेश सुनते आये थे । जन्म से ही प्रकृति ने ही उन्हें पाला-पोसा है । उन्होंने शिखी पिक से बोलना तथा मोर से चलना सीखा है, सूर्य-चंद्र से चैतन्य, सह्याद्री से आध्यात्मिक सौंदर्य पाया है । बचपन से ही कुवेंपुजी पर प्रकृति का अत्यंत प्रभाव रहा है । उन्होंने प्रकृति को कल्पना के पंख लगा दिए । प्रकृति का कण-कण उनके धमनियों में संचार करता था । जिस प्रकार एक नव युवती युवकों को अपनी ओर आकर्षित करती है, उसी प्रकार प्रकृति उन्हें अपनी ओर खींचती है -

"नन्ननंदु मलेयली निन्न कलेय वलेयली
ओ इन्द्र जालकारिणी
मोहद मुत्तिदे मुतुगळली सुतिदे:
हे इन्द्र धुनुर्धारिणी
अंदिनिंद इन्दुवरेगे
सिलुकी निन्न होन्ने सेरेगे
चेन्ननादे नानु- तिरेगे ।
आदिमर समूर्तिये ।

अर्थात वर्षाऋतु प्रदेश में पले बढे कवि को प्रकृति किस तरह उसे घेर ली है, इस उपयुक्त पंतियों में देख सकते हैं । प्रकृति का इंद्रकारिणी कहते हुए कवि अपने आपको प्रकृति के जाल में फँसा हुआ पाता है ।

कुवेंपुजी के काव्य गुरु प्रकृति ही है । पूर्व काव्य अभ्यास बहाना मात्रा है । उन्होंने पुस्तकों से भी अधिक प्रकृति से सीखा है । साथ ही साथ प्रकृति से स्फूर्ति पायी ।

मलेय नाड वनगळल्ली
मुगुद बालनलेयूनिरलु
अरियदंते हेज्जेइट्टु
बेन्नहिन्दे नीनु बन्दे
कव्वदंगने !
हूऊगळल्ली अडगी नीनु
करेदे यन्नु
तुंगेयल्ली मियूतिरलु
अलेगळल्ली हुदुगी नीनु
मुतु कोट्टे केन्नेगळिगे
चेन्ने कवितेये ।

अर्थात - इन पंक्तियों में कवि अपने-आपको मुग्ध बालक मानता है । प्रकृति मुग्ध बालक के पीछे चुपके से आती है । तुम मेरे काव्य का अंग, काव्य की कन्या कहकर प्रकृति को संबोधित करता है । कवि प्रकृति को जड-चेन वस्तुओं में पाता है । गुलाब में छिपे भ्रमर की तरह नदी की लहरों में छिपे स्फूर्ति तथा प्रेरणा ही कवि को काव्यसृष्टि करनेकेलिए कारणीभूत हैं ।

गुप्तजी के जयभारत काव्य में प्रकृति का वर्णन रंगबिरंगी हैं । कुछ अंश इस प्रकार हैं -

पौं फटी, स्थिर हो प्रकृति फिर मुसकराई,
और सबने सहज सुख की साँस पाई ।
शांति धारण की मरुद्गण ने, वरूण ने,
स्वर्ण-पट सब को दिया आकर अरूण ने ।

उपर्युक्त वर्णनों में प्रभात-काल का, उसमें संपूर्ण प्रकृति को सुनहला वस्त्र प्रदान करने की बात तो मनोहारी है ही, ध्यातव्य मरुत्, वरुण और अरुण इन वैदिक देवताओं का संयोग है, जिससे कवि की वाणी में उदात्तता आई है ।

गई सवेरे साहस करके रानी सुर-सरिता के तीर,
किरणों से झिलमिला रहा था गलित-सुवर्ण-ललित शुचि नीर ।

इस वर्णन में कुंती जिस समय कर्ण के पास गंगा-तट पर पहुँचती है, उस समय नवोदित सूर्य की किरणों से गंगा का जल वैसे झिलमला रहा था, जैसे उसमें गलित स्वर्ण प्रवाहित होकर उसके पवित्र जल को अतिशय सौंदर्य प्रदान कर रहा था ।

एक तनु में ही न पाकर तोष गंगा,
बन गई शततनु, सहस्र-तरंगभंगा !

यह वर्णन गंगा-सागर का है, जहाँ गंगा समुद्र से मिलती है । गुप्तजी कहते हैं कि उससे एक शरीरवाली गंगा सौ शरीरों वाली हो जाती है, यानी उसे बहुत विस्तार प्राप्त होता है और वह सहस्रों तरंगो की भंगिमा अख्तयार कर लेती है ।

फहरीं शांति-ध्वजाएँ, लहरी कल कंदली-कदलियाँ,
खिलीं पल्लवों के हाथों में हँस कदंब की कलियाँ ।
प्रस्तुत हुई आम-जामुन की सजी डालियाँ-डलियाँ,
मुकुट चंद्रिकाएँ रच लाईं नाच मयूरावलियाँ ।

इस वर्णन में गुप्तजी की 'तुकबंदी' का नमूना है । इस तुकबंदी के चलते उनकी उपेक्षा ही नहीं, अवमानना भी की गई है, जबकि उसमें कथित कर्कशता भले ही रही हो, अनुपयुक्तता कभी नहीं रही । यह तथ्य हमेशा ध्यान में रखने योग्य है कि वे शब्दों की कोमलता पर अर्थ को न्यौछावर करनेवाले कवि न थे । यह बात और है कि प्रस्तुत वर्णन में सारी तुकें अत्यंत सार्थक ही नहीं, कोमल और मधुर भी हैं । एक-एक चित्र वर्षा का दृश्य उपस्थित करनेवाला है । प्रभूत जल प्राप्त कर केले के पेड लहरा उठे हैं, तो लगता है कि शांति की ध्वजाएँ फहरा उठी हैं । शांति-पताका शुभ्र होती है, लेकिन गुप्तजी ने उसे हरा रंग प्रदान कर शांति को और गहरा कर दिया है ।

जल बरसाकर चित्रांबर ने फिर मोती बरसाए,
भरी उषा की नलिनांजलियाँ, गए हंस फिर आए ।
पथ का पंक सूर्य ने सोखा, अमृत चंद्र ने सींचा,
कनक कलम लेकर सुकाल का चित्र प्रकृति ने खींचा ।

इन पाँक्तियों में वर्णन का सौदर्य भी चित्ताकर्षक है । शरद्-ऋतु के तारकखचित आकाश को कवि ने 'चित्रांबर' कहा है और ओस गिरने को उसका मोती बरसाना । प्रभात-काल में पूर्व की दिशा से सूर्य की राश्मियाँ छिटक रही हैं, तो लगता है कि उषा कमलों की अंजली दे रही है । आकाश में हंसों का फिर से दिखालाई पडना, सूर्य की किरणों का रास्ते के कीचड को सुखा देना तथा रात में चंद्रमा का अमृत बरसाना - ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति ने अपने हाथों में सोने की कूँची लेकर अत्यंत रमणीय काल का यह चित्र निर्मित किया है।

चाँदनी छिटकी थी उस रात,
विवरता था वासंतिक वात ।
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
वारि में बह विधु थे प्रतिभात ।

इस वर्णन में वसंत की वन्य ज्योत्स्ना का शांति और सादगी से भरा हुआ चित्रण है । सरोवर में अपनी पंखुडियाँ संपुटित कर कमल सो रहे थे, लेकिन उसके चंचल जल में एक चाँद ढेर-सारे चाँद बनकर दिखलाई पड रहे थे ।

बने विभिन्न प्रवाह भूमि के हार थे,
निर्मल निर्झर मधुर अदि्-उद्गार थे ।

यह वर्णन भी सादा है, लेकिन विभिन्न नदियों को वन-भूमि का हार और झरनों को पर्वत के उद्गार बतलाना कम सुंदर नहीं है ।

विद्युद्दंष्ट्रा लिए उपद्रव मूर्ति प्रचंड,
लगा पार्थ को, टूट पडा भू पर घन-खंड ।
भागे दंती इधर अधर सुन घुर-घुर घोर,
स्वयं सिंह आ सके न उस उद्धत की ओर ।
खडी सटाऐं देख जटाधर वर-से वृक्ष,
काँप उठे, जा चढे भागकर जिन पर ऋक्ष ।

यहाँ बनैले शूकर का ओजस्वी वर्णन है, जिसमें पहले 'विद्युद्' और 'घन' का संयोग द्रष्टव्य है, फिर

उसकी सटाओं और जटाओं वाले दूल्हे-जैसे वृक्ष का । वह शूकर अचानक प्रकट होकर अर्जुन पर टूट पडा था ।

शून्य भरकर यह रजत मंदिर बढा है,
मिहिर हीरंक-कलश-सा इस पर चढा है ।

इन पंक्तियो में हिमालय का वर्णन है, जो शून्य को भरते हुए रजतनिर्मित मंदिर की तरह काफी ऊपर तक उठ गया है । उसके ऊपर टिका हुआ सूर्य उस पर अर्पित हीरक-कलश की तरह शोभायमान है !

पल पल परिवर्तित प्रकृति की रंगबिरंगी छवियाँ कुवेंपुजी के गीतों में चिर-नवीन दिखाई देती हैं । मलयनाडु की, पहाडी इलाके की बहुरंगी शोभा मानव-जीवन की रंग-शाला को किस प्रकार अलंकृत कर रही थी । कर रही है, इसका अनुभव आप की कृतियों में लक्षित होता है -

फैली यह रजत रेती, कानन की है हरियाली
नीलिमा से रंगी सरिता, कर रही रंगरेली ।
नीरव फैला नीला अंबर शांति मंत्र उच्चार करे
आत्मा के अमर तेज से आलोकित सब हुआ करे ।।

प्रकृति पुरुष की विराट छाया है । जड सृष्टि चैतन्य के स्पर्श से पुलकित है । प्रकृति के समस्त व्यापार दिव्य चेतना के कारण लुभावने लगते हैं । पुरुष पुरातन की यह नटी नित नई भंगिमाओं से निसर्ग को मनोरम बनाती है । कवि को गोचर में अगोचर की सत्ता का बोध होता है । वह उसके अपरूप लावण्य पर मुग्ध होता है । अनंत सत्य के अन्वेषण में शिवत्व का अनुसंधान करता है ।

भावगीतों में मलयनाडु की प्रकृति की रमणीयता बालसुलभ कुतूहल जगाने के साथ साथ ऋषि-सुलभ परिपक्व जीवन-दर्शन की झाँकियाँ देखने को मिलती हैं । उनके अनुसार 'कला के लिए कला' कोरा प्रलाप है । वह 'सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्' का समन्वय है । शिवशून्य सौंदर्य का कोई महत्व वे नहीं मानते । तादात्म्य की पराकाष्ठा से प्रभावित कवि युगधर्म की उपेक्षा नहीं करता । सर्वोदय, समन्वय, समग्र दृष्टि आदि के मूल में निहित वैज्ञानिक वैचारिक चिंतन की महत्ता को स्वीकार करते काव्य में कवि रसानुभूति-रसास्वादन, निजकेलिए मात्र नहीं, मानव मात्र के लिए अनिवार्य घोषित करता है । प्रकृति को 'सुंदर महेश्वर का रसमय शरीर' माननेवाले 'कुवेंपु' नीरसता को, अरसिकता को पाप और सरसता और रसिकता को पुण्य बताते हैं । उनके भावगीत रसानुभूति की निराली भंगिमाओं को चित्रित करते हैं । प्रकृति-निरीक्षण से अंतप्रकृति के परीक्षण की प्रवृत्ति जगाने का संदेश प्राप्त करनेवाला कवि भेदभाव बिना मानव मात्र के लिए यह वरदान माँगता है । 'कुवेंपु'जी की मँगलाशा है-

'मुझे वरदान देनेवाली प्रकृति-माता
मेरे कन्नड भाषियों पर अनुग्रह करे ।
सकल चराचर में कला फले-फूले
जीवन हरा-भरा शिष्ट, तुष्ट और पुष्ट हो ।

प्रकृति का बाह्य स्वरूप तथा उसके क्रियाकलाप - मिथ्या नहीं परंतु वे सारे उसके सर्वस्व भी नहीं, परमार्थ भी नहीं । बाह्य दृष्टि बाहर की दुनिया देखती है, जबकि अंर्तदृष्टि उसके अंदर प्रवेश कर अविनाश तथा अनंत तत्व को ग्राह्य करती है । कला-दृष्टि को मात्र इस आध्यात्मिक सौंदर्य के दर्शन होते हैं । सूर्य का ताप, चंद्र की शीतलता, हवा की चंचलता, मनुष्य की बुद्धि आदि एक ही शक्ति के रूप हैं । मानव-चेतना, वनस्पती-चेतना, प्राणि चेतना, शिला-चेतना आदि एक ही चेतना के विभिन्न अंश हैं ।

राम को शिलातपस्वी अहिल्या की ध्वनि के समान कवि को पर्वतवाणी सुनाई देती है, पंछियों का गान समझ में आता है, भँवरे की गुनगुनाहट सुनाई पडती है, अंधेरे की स्तब्धता भी सुनाई देती है । ईश्वर और प्रकृति भिन्न-भिन्न नहीं है, घाँस, रज कण मनुष्य

को अज्ञान शक्ति का संदेश देते हैं । प्रत्येक फूल पूजा का संकेत होते हैं । प्रत्येक वन देवालय तथा प्रत्येक पहाड प्रतिमा के रूप में दिखाई देती है । नदी की कलकलाहट, पत्तों की चरमराहट आदि सभी ईश्वर के गीत बन जाते हैं । इन सभी आंतरिक सौंदर्य को जो समझता है, वही सच्चा कवि कहलाता है । संसार की सभी चीजें बोलती हैं, परंतु उनकी भाषाएँ भिन्न हैं, उनकी भाषाओं को कवि ग्रहण करता हैं । वे उसके हृदय के धडकाते हैं । इतना ही नहीं, उसके आत्मा को और संसार की वस्तुओं की अंतरात्मा को संबंध जोडते हैं । उस आत्मा को प्रकाश से तुलना की जाए तो, प्रकाश ही कहा जाए तो, वह एक विछिन्न-धारा कह सकते हैं । उस अनंत प्रकाश को प्रसन्नता प्रकट कहता है । वह अपनी प्रतिभा से प्रतिमा रसकोश के माध्यम से आकार पाती है । इसका अर्थ काव्य मात्र अक्षर नहीं, नकल भी नहीं, भावचित्र भी नहीं, अपितु वह दर्शन है ।

मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'सिध्दराज' कृति में वंसत ऋतु का वर्णन करते हुए लिखा है कि

सार्थक वसंत-काल मधु रसाल था,
बौरे महुए थे वहाँ और आम मौरे थे !
फूले थे असंख्य फूल, भौरे सुध भूले थे;
आ गई थी उष्णता खगों के कल-कंठों में;
गंध छा गया था मंद-शीतल-समीर में;
लहरा रहे थे खेत सुंदर सुनहले ।

यह वर्णन अत्यंत सरल है, फिर भी दो बातें एक तो यह कि 'बौरना' का अर्थ तो मंजर लगना है ही, 'मौरना' का अर्थ भी मंजर लगना ही है । दूसरे, पक्षियों के कंठों में उष्णता इसलिए आ गई कि वे लगातार बोलते रहे हैं ।

प्रकृति के साथ गहरा संबंध होने के कारण कुवेंपुजी दार्शनिक कवि भी बने । उनके समान प्रकृति-प्रेम, प्रकृति के विविध रूप, उसके अंत: सौदर्य का अनुभव तथा प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने का श्रेय कुवेंपु के अतिरिक्त वर्डस्वर्थ मात्र दिखाई देते हैं । सौंदर्य दर्शन ही उनके काव्य की आत्मा है । उन्हें प्रकृति आराधना ही परमाराधना लगती है । इसके अतिरिक्त उन्हें कोई पुरुषार्थ दिखाई नहीं देता । उन्हें जहाँ देखो वहाँ हरियाली, फूलों की लाली, हवा का झोंका-हरा, पक्षियों का गान हरा दिखाई देता है । उनका प्रकृति प्रेम इन पंक्तियों में स्पष्ट दिखाई देता है -

हसुरत्तल हसुरित्तक
हसुरेत्तक कडलिनली
हसुरगट्टितो कवियात्म्
हसुरनेतर वडलिनली

अर्थात वहाँ भी हरियाली, यहाँ भी हरियाली जहाँ भी हरियाली, समुद्र भी हरा, कविका रक्त भी हरा, यदि देखा जाए तो इस संसार में कोई जड वस्तु ही नहीं है क्योंकि बीज में वृक्ष, पत्थर और लकडी में आग, खाद में चैतन्य का दायित्व होता है, तो उन्हें जडत्व कहना असंगत लगता है । शरद ऋतु के सूर्योदय के समय में बिछौने के समान हरियाली बिछी होती है, तब घाँस के ऊपर शबनम मुस्कुराती है । पत्थर पर, मिट्टी में, घँस में, धूल में, पानी के बूँद में, आग के चिंगारी में, मुझमें, कवि में जहाँ-तहाँ चैतन्यता दिखाई देती है ।

चेतना मूर्तियु आ कल्लु
तगे जडवेंबुदे उरी सुळु

अर्थात - **उस पत्थर में चेतना है**
छोडो, जड है नहीं ।

मैथिलीशरण गुप्त जी भारत-भारती में प्राचीन भारत की प्रभात-वेला का अत्यंत मनोरम वर्णन किया है । उसकी दो पंक्तियाँ हैं -

गंगादि नदियों के किनारे भीड छवि पाने लगी,
मिलकर जल-ध्वनि में गल-ध्वनि अमृत बरसाने लगी ।

पहले उद्धत बंद में अमृत का पारावार है, जबकि इन पंक्तियों में नदियों के कल-कल में मिलकर मंत्रोच्चार की ध्वनि अमृत बरसा रही है एक बंद में कवि ने होमाग्नि का वर्णन किया है, जो अपनी सशक्तता के कारण पूरा देखने लायक है -

निर्मल पवन जिसकी शिखा को तनिक चंचल कर उठी-
होमाग्नि जलकर द्विज-गृहों में पुण्य-परिमल भर उठी ।
प्राची दिशा के साथ भारत-भूमि जगमग कर उठी,
आलस्य में उत्साह की-सी आग देखो, लग उठी ।।

कुवेंपुजी के काव्य में भी प्रकृति संबंधी कविताओं का विशिष्ट स्थान है । 'कोळलू', नविलू, पक्षीकाशी, कलासुंदरी, कृति के आदि काव्य संमूहों में प्रकृति का चित्रण हुआ है । बारिश प्रदेश के इस कवि को वर्षाप्रदेश से बहुत प्रेम तथा मोह है । इस प्रदेश समृद्ध सौंदर्य कवि के दाह के अनुसार आहार है । वर्षाप्रदेश का जितना भी वर्णन किया जाए वह कम है । 'होगुवेनु ना' कविता इसका एक सुंदर उदाहरण है । 'हसुरु' कविता में प्रकृति चित्रण दिखाई देता है ।

हसुरागस : हसुरु मुगिलु:
हसुर गद्देया बयलु
हसुरु मले: कसुरु कणिवे;
हसुरु संजेया बिसिलु !

अर्थात **हरा आकाश; हरा गगन;**
हरा खलिहान,
हरा प्रदेश, हरी घाटी
हरी शाम की धूप.

'उद्यानवनदल्ली ध्यानयोगी', 'दये' 'कृपे', 'शिवकाव्यद कण्णो' 'देवरु रूजू माडिदनो', 'पक्षी' तथा 'गगनगुरु' आदि कविताओं में प्रकृति चित्रण को सुंदर रूप से प्रस्तुत किया है ।

निष्कर्ष के रूपमें कह सकते है कि दोनों कवियों ने प्रकृति के माध्यम से अपने हृदयस्य मनोभावों की बडी ही रमणिक एवं मार्मिक अभिव्यंजना की है अथवा यों कह सकते हैं कि जिन भावों एवं व्यापारों के चित्रण में दोनों कवियों को कतिपय सामाजिक बन्धन बाधा पहुँचाते हुए-से जान पडते थे, उन सभी भावों एवं व्यापारों को दोनों कवियों ने प्रकृति के माध्यम से बडी तत्परता के साथ अभिव्यक्त किया है ।

■■

हिन्दी विभाग, एस.बी. कला एवं के.सी.पी. विज्ञान महाविद्यालय, विजयपुर - मो. 9448185705